

आलू की आँख

राजेश जोशी

बादल छाए थे, खूब सारे कबूतरों की तरह। गुनगुनी धूप उनके पंखों की छाँव से सँवला गई थी। एक मौजभरा मौसम था - चिड़ियों के लिए, और मट्टू के — 'मौसम शास्त्र' में 'मौसम बदमाश' हो रहा था। उसने रात कहीं से चालीस रुपयों की जुगाड़ जमा ली थी, कि किसी तरह मैं काम चला लूँ फिर पगार मिल जाएगी, और चक्का चल निकलेगा। इसकी टोपी उसके सर कर देना उसके बाएँ हाथ का खेल था। मुझे उधार माँगते बड़ी झंप लगती थी। इसलिए मैं तैयार नहीं था, पर सब दोस्तों ने कहा - सरकारी नौकरी मिल रही है, छोड़ो मत, सरकारी अच्छी है, प्राइवेट में रोज़-रोज़ की चकल्लस है। दो सौ पे सही लेंगे सौ पकड़ा देंगे, ऊपर से इल्ले-पिल्लों का रोब सहो, हथेली पे थूक झेलना पड़ता है। सबने कहा, "सरकारी में ठाठ है, ठाठ खुला पड़ा है, ठाठ में घुस जाओ।" एक-सौ-तीस-ढाई-साढ़े बत्तीस, का ठाठ था। मैं एकाएक ठाठदार हो गया। आत्मा ने मेरे सीने को टकटकाया तो सीना उभर आया, गर्दन अकड़ गई और थेगलेदार जूते टकटकाने लगे। टकटक सुनकर सब

हँसे, हँसकर बोले, "कह-सुनकर तबादला करा लेंगे, फिलहाल - लपक लो।" सब मुझसे ज़्यादा अनुभवी थे, जानते थे, किससे और कितना कहना-सुनना पड़ता है। लपकने से पहले, रात मैंने सर्राफा जाकर, फीचर* खेला। किस्मत बुलन्द थी। मट्टू से बहाना करके मैं चुपचाप बलन** ले आया, उसे पता लग जाता तो ज़रूर दस-बीस झटक लेता। पूरे पिचतर दाबकर मैं चल पड़ा।

खड़खड़ाती-भड़भड़ाती हुई वह एक शानदार बस थी। सर्कस की कार-सी, भुर्र... भुर्र... करती, हिलती-डुलती, जो मंच पर आती और चलते-चलते जिसके सारे पुर्जे बिखर जाते। बच्चे हँसते और तालियाँ बजाते। यही होगा इस बस का भी हाल। मैंने सोचा, सारे यात्री जोकरों की तरह उछल-उछलकर खाई-खन्दकों में बिखर जाएँगे, धूल झटकारकर खड़े होंगे। मुँह फाड़कर कहेंगे, 'जंगल सर्कस आपका स्वागत करता है'। पर वहाँ ताली कौन बजाएगा, पेड़ या बन्दर? बस और स्टैंड के बीच धूल का एक विशाल बगूला खड़ा था, मैं उसके

* सट्टा

** सट्टे की रकम



भीतर से गुज़रा और बस में चढ़ लिया। सीटें लम्बाई में लगी थीं, बस की चौड़ाई में नहीं। सारी सीटें भर चुकी थीं, ठसाठसा। छत इतनी नीची थी कि मेरी लम्बाई उसमें नहीं अट पाई। आँखों में पिता के लम्बे होने का दुख तैर आया, दुख गरदन की पिछली हड्डी से बाहर आया था, जो गरदन झुके होने से हँसुए-सी उभर आई थी। बस चली,

और चार कदम चलकर रुक गई। ऐसा कई बार हुआ, कोई हाथ दिखाता और वह रुक जाती। लोग चढ़ते और सामान ऊपर चढ़ाया जाता। एक गाँव से हाट बाज़ार को जाने वाले लोग चढ़े, साथ बहुत-सी डलियाँ और बोरे भी चढ़े। ऊपर सामान चढ़ाया जाता तो लगता, सामान जैसे मेरी खोपड़ी में भरा जा रहा हो। क्या मेरा सर कोई भण्डार था? वैसे फालतू की ढेर सारी बातों

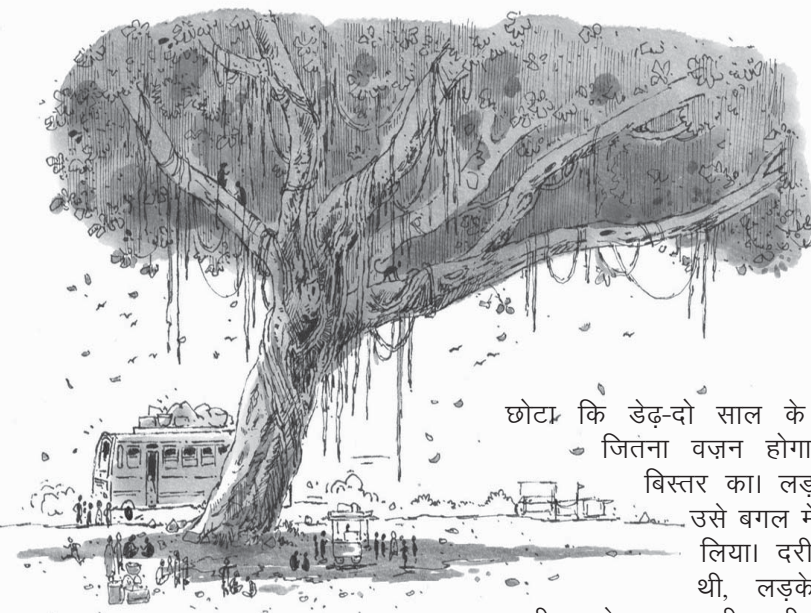
से तो बेहतर ही था यह सामान – सब्जी थी, अनाज था, और गिलट के जेवर भी! सड़क, बस से ज़्यादा शानदार थी। धूल और धचकों से भरी हुई। बावजूद बस के शोर के, लोग-बाग बतिया रहे थे। बस की भड़... भड़...खड़...खड़ बात के किसी भी हिस्से में एक टेक की तरह जुड़ जाती।

बस की खड़...खड़ के बीच एक आवाज़ उभरी - कुड़कुड़ कुड़कुड़, यह आवाज़ बस की नहीं थी, मुर्गों की थी, जो मेरी बगल में खड़े आदमी के हाथ में उल्टे लटके थे, टाँगें बँधी थीं। भीड़ इतनी थी कि न तो हिलने-डुलने की जगह थी, न पंख फैलाने की। कंडक्टर तिसपर भी भीड़ में दबता निकलता, टिकट काटता, आगे से पीछे आ रहा था। मुझे लगा कंडक्टर की नौकरी के लिए अवश्य ही भीड़ में दबते हुए निकलने का अनुभव माँगा जाता होगा। वह काफी अनुभवी लग रहा था। वह जब मेरे पास आया तो मैंने थोड़ी ऊँची आवाज़ में कहा - एक देपालपुर। अनेक चेहरे अचानक मेरी ओर घूम गए। कंडक्टर का मुँह बिगड़ गया। जैसे मैंने कोई गंदी हवा छोड़ी हो। उसने तकरीबन छीनते हुए मेरा नोट लिया, टिकट काटा, बाकी पैसे पीछे लिखे, और मेरी हथेली में खोंस दिया। मैं समझ नहीं पाया, वह दूसरों के टिकट काटने लगा। 'एक ग्यारह कोस' 'एक बड़ा गाम'... एक आवाज़ उभरी 'एक खोलड़ा गाँव

दीजो', आवाज़ पर एकसाथ कई लोग हँसे, ठठाकर। क्या-क्या नाम हैं गाँवों के भी! मैंने सोचा। बहुत-से यात्री लगातार आपस में बतिया रहे थे, मैंने सोचा, ज़रूर ही नियमित वाले यात्री होंगे।

देपालपुर एक करबेनुमा छोटी-सी जगह थी। शहर के करीब होने के कारण छोटे व्यापारी काफी तादाद में थे। एक औसत दर्जे की मण्डी था यह गाँव। यहाँ की मिट्टी काली थी और ज़मीन में पानी खूब था। आलू के लिए बढ़िया ज़मीन थी। मौसम की नज़र भेंगी न हो तो काफी बड़ा आलू होता, जो इन्दौर-उज्जैन के रास्ते दूर-दूर जाता था। आलू के अलावा यहाँ के डोरिये भी प्रसिद्ध थे, और डोरियों का धन्धा भी खूब था। मोटे खुरदुरे सूत की दरियों को डोरिया कहा जाता था। ये दरियाँ यहाँ की विशेषता थीं। आसपास के किसान पतले डोरिये ओढ़ने के काम में भी लेते थे। अनेक घरों में डोरिये बनाने के छोटे-छोटे कारखाने थे। लेकिन फिर भी लोग मानते थे कि गाँव का नाम मनहूस है, कोई गाँव का नाम नहीं लेता। किसी दूकान के बोर्ड पर देपालपुर का नाम नहीं लिखा था। व्यापारियों का खयाल था कि सुबह-सुबह नाम ले लो तो बोनी-बट्टा तक न हो। मक्खी मारो दिनभर। मुझे जब ये सारी जानकारियाँ प्राप्त हुईं तो कंडक्टर की सूरत कई बार याद आई।

बस स्टैंड बरगद का एक पेड़ था,



छोटा कि डेढ़-दो साल के बच्चे जितना वज़न होगा उस बिस्तर का। लड़के ने उसे बगल में उठा लिया। दरी गंदी थी, लड़के की कमीज़ सफेद झक्क थी। कमीज़ गंदी हो गई, मेरे अन्दर भी कुछ गंदा होने लगा। उबरने को मैंने पूछा, “कौन-सी में पढ़ते हो?” “नवीं में,” उसने बताया।

जहाँ बस रुकी। लोग उतरे, साथ-साथ मैं भी उतरा। कोई पहचान नहीं थी, पहली बार यहाँ आया था। एक दूकानदार से मैंने पूछा, “स्कूल कहाँ है?” “किससे मिलना है आपको?” उसने जवाब की बजाय सवाल कर डाला। “मेरी नई नियुक्ति हुई है,” मैंने कहा। “तो आप ही हैं नए मास्साब!” उसने ऐसे कहा जैसे यह कोई अचम्बे की बात हो। मैं क्यों नहीं हो सकता नया मास्टर? क्या नए मास्टर के सर पर सींग होते हैं? उसने मुझे देखा और दूर खड़े एक लड़के से बोला, “नए मास्साब हैं, स्कूल ले जा।” लड़के ने लपककर नमस्ते किया और मेरा सामान लोक (उठा) लिया। बैग मेरे कन्धे पर था। सामान के नाम पर एक पतला-सा गद्दा था, जो फटी हुई दरी में कसकर बँधा था। इतना

सफर हो या ज़िन्दगी, सामान कम होना चाहिए, मैं ऐसा मानता था। यह मानना मेरी तंगहाली की उपज भी हो सकता था। जैसा बीज वैसी फसल। मेरी मध्यवर्गीयता ने अन्दर कहीं कौँचा, मुझे अपने ही गद्दे को देखकर झंप लगी, वह इतना छोटा लग रहा था कि मुझे लगा लोग हँसेंगे। “इसे कहीं रख नहीं सकते?” मैंने पूछा। लड़के ने कहा, “दूकान में रख देता हूँ।” वह दूकान की तरफ बढ़ गया। मुझे राहत मिली।

वह लड़का रमेश था। उसके पिता की परचूनी की दूकान थी। उसकी कमीज़ में धूल का दाग लग गया था।



पर वह निश्चिन्त था। वह बायलॉजी का छात्र था। 'मेरा ही छात्र है' मेरे मन ने कहा। जैसे छात्र न हो, मेरी जागीर हो, तो सावधान! अब मैं आ गया हूँ, तुम्हारे दिमागों में इस देश की शिक्षा प्रणाली के सड़े आलू की खेती करने! मेरी सोच को लेकिन अचानक रुकना पड़ा, सामने एक लड़का खड़ा था, नमस्ते की मुद्रा में। "मैं केशव," उसने कहा। रईस घर का लड़का है, गले में लटकी सोने

की चेन और कपड़ों की लकड़क ने कहा। वह काफी तपाक-झपाक लड़का था। मिलते ही बोला, "रहने की फिक्र न करें, मेरा घर है, स्कूल से थोड़ा दूर है, आप चाहेंगे तो पास भी मिल जाएगा। चाहें तो अभी देख लें।" मैंने कहा, "पहले स्कूल हो लें फिर बाद को चलेंगे।" रमेश आगे

निकल गया था। केशव ने एक ही झटके में बहुत सारी जानकारियाँ दे डालीं। सारे मास्टर्स के नाम, उनके विषय, और फिर अपने परिवार और धन्धे के बारे में, और यह भी कि जब ट्रक इन्दौर-उज्जैन जाता है तो 'अँग्रेज़ी' भी आ जाती है। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते वह बोला, "इंग्लिश का एक क्वाटर पड़ा है। आप थक गए हों तो भिजवा दूँ?" रईसी का यही मज़ा है, पैसे से आत्मविश्वास उज्जड़ हो जाता है, लिहाज़ नहीं, लिहाज़ का सवाल नहीं। कोई क्या उखाड़ लेगा वाला-सा अन्दाज़। वह तोल रहा था,

मैं तराजू में चढ़ने से इनकार कर रहा था। उसे कोई जल्दी नहीं थी, उसने दो-एक बाँट और चढ़ाए और चल दिया।

स्कूल-भवन नया-नया था। गाँव में शिक्षा के प्रसार के हमारे पावन उद्देश्यों का ताज़ा प्रमाण! भवन को भिगोकर एक बरसात गुज़र चुकी थी। बाहरी दीवारों पर पानी की चोटें निखरी हुई थीं। जो कोई दीवारों पर उग आई थी, वह अब कलियाने लगी थी। चारों ओर काफी बड़ा अहाता था। पीछे के अहाते में घास उग रही थी। घास ऊँची हो रही थी, घास हिलती तो हवा सरसराने लगती। शिक्षा हिलती-डुलती नहीं थी, वह बरसों से एक ही जगह जमी हुई थी और मज़े से बबुए जन रही थी। स्कूल खुले ढाई से ज़्यादा महीने बीत चुके थे! बायलॉजी का कोई मास्टर यहाँ नहीं था। मेरे आ जाने से लड़के खुश हुए, जैसे बायलॉजी पढ़ते ही वे इस देश की नस-नाड़ी समझ जाएँगे! मैं पहुँचा, मेरे पहुँचने से पहले मेरे आने की खबर स्कूल में पहुँच चुकी थी।

स्कूल छोटा था और मुझे देखने की उत्सुकता से भरा हुआ था। “लो देखो, जी भरकर देखो!” मैं दाखिल हो गया। लड़के अलग-अलग झुण्डों में खड़े थे। मुझे देखते ही उनकी आँखों में एक आश्चर्य हिलोरने लगा और कानाफूसी शुरू हो गई। कुछ लड़के मुझसे भी बड़े लग रहे थे। वे डीलडौल से इतने बड़े थे कि उनकी

उमर भी बड़ी लग रही थी। फिर कुछ लड़कियाँ भी दिखीं। अहा, तो लड़कियाँ भी हैं! मेरे अन्दर मेरा कुआँरापन कुरकुराया। प्रवेश द्वार की बाईं बाजूवाले कमरे पर ‘प्राचार्य’ की तख्ती टंगी थी और दरवाज़े पर चिक लटक रही थी। तो यह है प्राचार्य का ऑफिस, चिक से झाँकता कि कौन आ-जा रहा है। तख्ती देखते ही मट्टू की याद आई, वह होता तो पूछता ‘तोते तो कभी तख्ती नहीं टाँगते कि तोते हैं, फिर इन ससुरे, प्राचार्यों को यह ज़रूरत क्यों पड़ती है?’ हँसी आने को हुई पर बहुत-सी आँखें मुआयना कर रही थीं, मैं हँसी को दबा गया। प्राचार्य ज़रूर थुलथुल-सा मोटा आदमी होगा, हमारे यहाँ थोड़ी जमी हुई नौकरी हो और आदमी औसत दर्जे का गृहस्थ हो, तो फैलने-फूलने में वक्त नहीं लगता। पेंट को बार-बार पेंट पर खींचने और पैर फैलाकर चलने की आदत हो जाती है। मैं यही सोचता हुआ, चिक उठाकर अन्दर घुसा। मेरी धारणा गलत निकली, आलू की ऐसी उर्वर भूमि के बावजूद प्राचार्य मोटे नहीं थे। वे कुर्ते-धोती वाले बूढ़े-से व्यक्ति थे, चेहरा भरा-भरा था, और भौहों के बीच गोल लाल तिलक चमक रहा था। तो तिलकधारी है! मेरे मन ने कहा।

“नमस्कार!”

“नमस्कार, नमस्कार!” (वे थोड़ा-सा उठे और फिर कुर्सी में धँस गए।)

“आइए बैठिए, आप तो बहुत कम उम्र के लगते हैं, लगता है पहली ही नौकरी है?”

“जी हाँ” (मैंने थोड़े-से दाँत चिरा दिए)।

“अच्छा है, खूब अच्छा है। हम तो नौकरी में बुढ़ा गए। आप अच्छे आ गए, यहाँ तीन माह से देखिए न बायलॉजी टीचर नहीं है। क्या बताएँ, चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ लिखीं, खुद डी.एस.ई. से तीन बार मैं इन्दौर जाकर कहकर आया, पर कौन सुनता है साब? अभी शहर का मामला होता तो पचास टीचर भेज दिए जाते। गाँव है सो किसी को फिकर नहीं, बच्चों की पढ़ाई का कितना हर्जा हो रहा है, पर कौन देखने वाला है?... अब अगले ही महीने दिवाली-दशहरे की छुट्टियाँ हो जाएँगी... कब कोर्स पूरा होगा... आप ही कहिए?”

“जी हाँ, वक्त तो बहुत कम है।” (मुझे खुशी हुई कि अगले महीने ही छुट्टी हो रही है।)

“पर ठीक है, दिक्कत तो होगी आपको, आप शहर से आए हैं। यह तो छोटा-सा गाँव है, लड़के भी ज़्यादातर गाँव के ही हैं, कुछ लड़के मगर हुशियार हैं... अयं... अरे कोई चपरासी है? (उन्होंने वहीं से एक आवाज़ बाहर फेंकी, फिर मुझसे बोले) बाकी के तो अब क्या कहें, किसानों के लड़के हैं, पर सनक है, पढ़ेंगे। माँ-बाप को भी सनक है, पढ़ाएँगे।

पढ़ो, पढ़ने से कौन रोकता है, पर हैं सब-के-सब एकदम ढाँदे। पूछिए, पढ़-लिखकर क्या करोगे। फिर शहर भागेंगे। इस देश का कबाड़ा इसी से हुआ है, जिसे देखो शहर भाग रहा है। हम कहते हैं, खेती करो, आलू में। आप ही देखिए, कितनी बचत है। यहाँ तो ज़रा साझ-सँभाल कर लो तो खूब बड़ा आलू होता है... विदेशों तक यहाँ का आलू...” चपरासी बीच में कोई कागज़ ले आया तो बातचीत रुक गई। वे नहीं चाहते थे कि किसानों के लड़के पढ़ें, हमारे यहाँ अक्सर उच्च वर्ग के लोग यही सब दलीलें देते हैं। तकलीफ उन्हें किसानों के लड़कों के शहर भागने से नहीं होती, तकलीफ उनके पढ़ जाने से है, पढ़-लिख जाएँगे तो दबेंगे नहीं। पढ़े-लिखे शातिरों का सारा वर्चस्व समाप्त हो जाएगा, तकलीफ सबसे ज़्यादा इसी बात की थी। मैं काफी ऊब चुका था। मुझे मकान भी देखना था और भूख भी लग रही थी। चपरासी जाने लगा तो प्राचार्य ने कहा, “किशोरी के यहाँ से दो चाय भेज दो।” वे भूल गए थे कि क्या कह रहे थे। चपरासी के निकलते ही वे फिर मुझसे मुखातिब हो गए।

“आप तो ब्राह्मण हैं... नागर या सरयूपारी?”

“जी नागर।” (मन हुआ, कहीं चाण्डाल हूँ और तुम्हारा अन्तिम संस्कार करने आया हूँ।)



“अच्छा है।” (मन हुआ, पूछूँ क्या अच्छा है, ब्राह्मण होना या नागर होना। पर बोलने में वे इतने बड़े पॉज़ नहीं देते थे) “अब तो शिक्षा तक में शूद्रों की नियुक्तियाँ होने लगी हैं, हमें तो कोई एतराज़ नहीं, कोई आए, सबको नौकरी चाहिए, पर संस्कार भी तो एक चीज़ होती ही है... शिक्षा का भी एक संस्कार होता है... है कि नहीं?”

“जी...”

“स्कूल है, फैक्ट्री या ऑफिस तो है नहीं, पवित्र काम है, हमने तो पूरी ज़िन्दगी खपा दी। आप हैं, आपके पास संस्कार हैं (मुझे मेरे संस्कृत वाले शास्त्रीजी याद आ गए। वे अक्सर मेरे बारे में कहते थे, यह पण्डित के घर गँवार पैदा हुआ है।), बच्चों को सिखाएँगे तो उनको भी एक संस्कार मिलेगा। हमारे पिताजी कहा करते थे...लीजिए चाय लीजिए।” चाय आते-आते थोड़ी ठण्डी हो गई

थी। वे सुड़क-सुड़क के पीने लगे। चाय खत्म करके मैं भी बाहर आ गया।

बाहर निकला तो यादव मुझे पकड़कर स्टाफ रूम में ले गया। अध्यापकों और व्याख्याताओं से परिचय हुआ। औपचारिक-सा। सबने कहा कि आपके आने से बड़ी खुशी हुई। पर किसी के चेहरे से खुशी की एक किरण भी नहीं फूटी। वे शिक्षा देते-देते प्रौढ़ा चुके थे या बुढ़ा चुके थे। उनमें से किसी ने पूछा, “डी. एस.ई. तो अभी पुराने वाले ही हैं न?” मैंने कहा, “मुझे मालूम नहीं,” उन्हें विश्वास नहीं हुआ। सबके चेहरे पर शक की एक झ़ाँई पड़ गई। पता होगा तो भी नहीं बताऊँगा, मैंने सोचा और बाहर आ गया।

बाज़ार के पास ही, एक दरवाज़े और दो खिड़कियों वाला एक कमरा मैंने ले लिया। कमरा बरसाती जैसा था। दरवाज़े के सामने आँगन था, जिसमें पेड़ लगे थे। मकान मालकिन एक बूढ़ी महिला थी। उसने चटपट झाड़ू लगा दी। और रमेश जाकर सामान ले आया। वह दुबला-पतला, सीधा-सा लड़का था। थोड़ा झेंपू था, और बोलता बहुत था। शक्कर-चाय चाहिए थी, वह जाकर ले आया। पैसे दिए तो उसने मना कर दिया। मैंने ज़्यादा ज़ोर दिया तो बोला कि दूकान से पूछकर बताऊँगा। मैं समझ गया, वह नहीं लेगा। गाँववालों की इस भलमनसाहत का मास्टर भरपूर

फायदा उठाते। यादव त्रिपाठीजी की मजेदार नकल करता। त्रिपाठी घूमते-फिरते किसी गुड़बेली पर पहुँचेंगे, कहेंगे- ‘वाह पटेल, बड़ा बढ़िया गुड़ बनाए हो, हमारे बच्चों ने तो अभी तक गन्ना भी नहीं चखा।’ और दूसरे ही दिन पटेल गट्टरभर गन्ने उनके घर पहुँचा देता। सुबह-सुबह वे किसी भी खेत की ओर निकल जाते और झोलाभर सब्जी तुड़वा लाते। चलते समय दोस्तों ने भी कहा था, गाँव में मास्टर बड़ी चीज़ होता है, खाने-पीने की चीज़ों की जुगाड़ तो फोकट में ही हो जाएगी।

शाम हो गई थी। बिजली जलाई तो बगल के कमरे वाला किराएदार आ गया। उसका नाम मदन सोनी था। वह पोस्ट ऑफिस में बाबू था और केवेंडर सिगरेट पीता था। उसने एक सिगरेट पिलाई और बाहर से दो चाय बुलवा लीं। वह पहला हमउम्र व्यक्ति था, जो मुझे मिला। शाम की मनहूसियत थोड़ी छट गई। वह भी बाहर से आया था और आए इतना अर्सा हो चुका था कि वह भी आलू के आतंक से भर गया था। इधर-उधर की दो-चार बातों के बाद ही, वह भी आलू के बारे में शुरू हो गया। “आलू का क्या है, दो महीने में फसल तैयार हो जाती है। कुएँ वाली ज़मीन हो तो बस पौबारा है, स्टोरेज ही साला एक सरदर्द है। ज़रा गर्मी पड़ी कि सड़ा, ज़रा तेज़ धूप पड़ जाए तो यहाँ के लोगों के चेहरे गधों की तरह लम्बा

जाते हैं। कितने ही मास्टरो की आलू की खेती है।” “अच्छा!” मैंने उसे थोड़ा-सा कुरेदा। “और क्या?” वह बताने लगा। “हिन्दी वाले त्रिपाठी ने पिछले बरस ही खूब बढ़िया ज़मीन खरीदी है। पटेलों के लड़कों से रुपया ँंठो और आलू उगाओ। गुरु, मास्टरी का धन्धा है चोखा।” वह हँसने लगा। उसका हँसना कनस्तर-सा बजा। वह चुप हुआ तो मैंने कहा, “बड़ा सन्नाटा है यहाँ।” “अरे, काहे का सन्नाटा, अभी सटोरिये आते होंगे, आधी रात तक धमचक रहती है। बाहर ओटले पर।” वह फिर हँसने लगा।

सोनी से मिलकर मज़ा आया। लेकिन ‘मास्टरी का धन्धा’ शब्द मुझे काफी देर तक चुभता रहा। मैं बाहर निकला, सिगरेटें खरीदीं, और ढाबा तलाशता हुआ काफी दूर तक निकल गया। रात घिरने लगी थी, मट्टू साला रम्मूछ बिठा (खेल में अनुमान लगाना) रहा होगा, मैंने सोचा। एक रम्मूछ मैंने भी बनाई, ‘देपालपुर की दुआ, आलू का अट्टा। दुए से आठ, अब किसके साथ हस्?’ सड़क पर पेड़ इतने थे कि अकेले हँसने में अप (अटपटा) लग रहा था।

(...जारी)

राजेश जोशी: हिन्दी के लेखक, कवि और नाटककार हैं। अपने कविता संग्रह *दो पंक्तियों के बीच* के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। इसके अलावा मुक्तिबोध पुरस्कार, माखन लाल चतुर्वेदी पुरस्कार, श्रीकान्त वर्मा स्मृति सम्मान से नवाज़े जा चुके हैं। इनकी कविताएँ अंग्रेज़ी, रशियन, जर्मन, उर्दू और कई भारतीय भाषाओं में अनुवादित हो चुकी हैं। भोपाल में रहते हैं।

सभी चित्र: शुभम लखेरा: स्वतंत्र चित्रकार हैं। गवर्नमेंट फाइन आर्ट कॉलेज, ग्वालियर से पेंटिंग में स्नातक। रियाज़ अकादमी, भोपाल से इलस्ट्रेशन का कोर्स। पिछले 8 सालों से बाल पत्रिकाओं के लिए चित्रकारी कर रहे हैं। डकबिल, तूलिका, चाइल्ड फंड इंडिया, एनसीईआरटी, नवनीत, एकलव्य, एलएलएफ, रूम टू रीड जैसे कई प्रकाशनों के साथ काम किया है। फिलहाल, अपने शहर चंदेरी, म.प्र. में रह रहे हैं।

